

## हिन्दी सिनेमा का दर्शक और सिनेमा में उसकी हिस्सेदारी

दो समकालीन वृत्तचित्रों के माध्यम से पड़ताल

मिहिर पण्ड्या

हिन्दुस्तान के वृत्तचित्र सिनेमा के लिए अस्सी का दशक एक युगांतकारी दशक सरीखा है। इस दशक के पहले तक हिन्दुस्तान के वृत्तचित्र सिनेमा के निर्माण के पीछे जिस सरकारी संस्था का हाथ रहा, उसका नाम था 'फ़िल्मस डिविज़न' और इसके बैनर तले ही प्रमोद पति ने 'एक्सप्लोरर', सुखदेव ने 'इंडिया 67' तथा मणि कौल ने 'ध्रुपद' जैसी चर्चित तथा भारतीय वृत्तचित्र सिनेमा में मील का पत्थर माने जाने वाली फ़िल्मों का निर्माण किया। लेकिन अस्सी के दशक में सरकारी संस्था फ़िल्मस डिविज़न को सीधे मनोरंजन के नए साधन, टेलिविज़न से चुनौती मिलने लगी। उन्नीस सौ चौरासी में फ़िल्मस डिविज़न के वित्तीय संसाधनों में कटौती की गई और इसमें निर्मित होनेवाली सालाना फ़िल्मों की संख्या 104 से घटाकर 52 कर दी गई। और 200 से ज़्यादा फ़िल्मों का निर्माण स्थगित कर दिया गया।<sup>1</sup>

लेकिन यही वो समय था जब हिन्दुस्तान में वृत्तचित्र सिनेमा नई स्वतंत्र पहचान हासिल कर रहा था। नए वृत्तचित्र सिनेमा निर्माता स्वयं के प्रयासों से ज़रूरत अनुसार पैसा इकट्ठा कर रहे थे और उन विषयों पर फ़िल्में बना रहे थे, जिन्हें सरकारी संस्थानों से इजाज़त और वित्तीय सहायता मिलना मुश्किल था। और इन फ़िल्मों के विषय तत्कालीन शहर के भीतर

चौड़ी होती आर्थिक और सामाजिक खाई को अपने केन्द्र में स्थापित कर रहे थे। टेलीविज़न के आने के साथ ही मीडिया विस्फोट का नया चरण हिन्दुस्तान के सार्वजनिक इतिहास में शुरू हो चुका था, लेकिन यह संचार माध्यम अभी सरकार के नियंत्रण में था। वृत्तचित्र सिनेमा यहाँ शहरीकरण की प्रक्रिया के उन पक्षों को दिखाने का माध्यम बनकर सामने आया, जिनका मुख्यधारा मीडिया निषेध कर रहा था। साम्प्रदायिक दंगे, जातीय हिंसा, पुलिसिया बर्बरता, औद्योगीकरण का असमान विस्तार, शहरी बेरोज़गारी, स्त्री पर अत्याचार जैसे विषय अस्सी के दशक में पनप रहे स्वतंत्र वृत्तचित्र सिनेमा के मुख्य विषय बनकर उभरे।

### **समकालीन शहर में हिस्सेदारी के संघर्ष : वृत्तचित्रों की नज़र से**

1984 में आई, उमा सहगल की वृत्तचित्र फ़िल्म 'शेल्टर' मुम्बई के फुटपाथ के उन निवासियों की व्यथा बयान करती है, जिनके घरों को उजाड़कर उन्हें शहर की परिधि से दूर कहीं ले जाकर छोड़ दिया गया था। मौके पर किए गए निर्भीक साक्षात्कारों से मिलकर बनी यह बयालीस मिनट की फ़िल्म उजाड़े जा रहे झोपड़पट्टी के निवासियों का पक्ष दर्शक के सामने रखती थी। फ़िल्म शहर के उच्चवर्ग द्वारा किए जा रहे दोहरे व्यवहार को सामने लाती थी, यही झोपड़पट्टी के निवासी लोग साथ में निर्मित बहुमंज़िला इमारतों को तमाम सेवाएं तथा श्रम उपलब्ध करवाते हैं, लेकिन खुद उन्हीं के रहने के लिए शहर की संरचना में स्थान नहीं है।

इसी तरह आनन्द पटवर्धन की फ़िल्म 'बॉम्बे : हमारा शहर' (1985) भी मुम्बई शहर की

इसी असमान संरचना और उसमें मज़दूर की पीड़ा को शहर के विरोधाभासी चेहरों को एक-दूसरे के सामने रखने की पद्धति के माध्यम से उजागर करती थी। आनंद की फ़िल्म 1982/83 में झोपड़पट्टी निवासियों पर बड़े पैमाने पर हुए हमलों की पृष्ठभूमि में बनी थी। आनंद कहते हैं, “केवल अधिकारी वर्ग ही उन्हें उजाड़ने को तत्पर नहीं था, सच तो यह था कि पूरे के पूरे मध्यवर्ग की नकारात्मक राय को झोपड़पट्टी के निवासियों के खिलाफ़ इस्तेमाल किया जा रहा था।”<sup>2</sup> रवि वासुदेवन भी उनके सिनेमा पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि पटवर्धन बहुत ही विवेकशीलता के साथ शहर के फुटपाथ पर रहनेवाले कामकाजियों की कथा दिखाते हैं, और इसके लिए वे उन्हीं की आवाज़ों का इस्तेमाल करते हैं। फ़िल्म में आवाज़ पहले आती है और उसके कुछ देर बाद कैमरा आवाज़ के स्रोत तक पहुँचता है। निर्देशक अपनी उपस्थिति को भी पीछे रखता है। लेकिन इसके बावजूद पटवर्धन की फ़िल्म शहर के सभ्रांत हिस्से, उसके आलीशान बंगलों, मंहगे फ्लैट्स और स्वयं में ही पूरी तरह रमे हुए नागरिकों का वर्णन करने में राजनीतिक रूप से बेहद सचेत है। निर्देशक यहाँ इन दो दुनियाओं को आमने-सामने रख तीव्र विरोधाभास पैदा करता है।<sup>3</sup>

शहर के रिहायशी स्थानों की साम्प्रदायिक आधारों पर होती घेरेबन्दी और इलाकों के बँटवारे को विश्लेषित करती एक और महत्वपूर्ण फ़िल्म थी दीपा धनराज की **‘क्या हुआ इस शहर को’** (1986) जिसमें हैदराबाद शहर में बदलते हिन्दु-मुस्लिम संबंधों को अपना विषय बनाया गया। हैदराबाद में 1984 के साम्प्रदायिक दंगे एक ऐसे शहरी समुदाय के बीच बदलते संबंधों की ओर इशारा कर रहे थे, जहाँ 800 सालों से हिन्दु-मुस्लिम साथ मिलकर रहते आये थे। धनराज की फ़िल्म इस साम्प्रदायिक तनाव के राजनैतिक आयामों को भी

परखती थी।

स्पष्ट है कि स्वतंत्र वृत्तचित्र सिनेमा का अस्सी के दशक में नया अध्याय शुरू होता है, और सरकारी मदद से बननेवाली फ़िल्मों के बरक्स वृत्तचित्र सिनेमा का एक ऐसा नया चेहरा सामने आता है जिसमें तत्कालीन शहरी घेरेबन्दियों और विभेद की गहराई से पड़ताल की गई है। नब्बे के दशक में इस स्वतंत्र सिनेमा आन्दोलन को और नए निर्देशक मिले और इसके साथ ही और मज़बूती मिली। लेकिन साथ ही चुनौतियाँ भी बहुत थीं। लेकिन नब्बे के दशक में वृत्तचित्र सिनेमा के विकास में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था फ़िल्म निर्माण की तकनीक का बदलता संसार, जिसके चलते सिनेमा बनाना ज़्यादा सुलभ और सस्ती प्रक्रिया बनने की ओर अग्रसर था। वृत्तचित्र फ़िल्मकार संजय जोशी नब्बे के दशक में वृत्तचित्र सिनेमा की निर्माण प्रक्रिया में आए परिवर्तन को विस्तार से बताते हैं, “डॉक्यूमेन्टरी पर लंबे समय तक भारत सरकार की संस्था फ़िल्मस डिवीजन का ही एकाधिकार था। बहुत बाद में जब वीडियो तकनीक चलन में आयी और फ़िल्म बनाना तथा फ़िल्म के उपकरण हासिल करना बहुत आसान और सस्ता हो चला तब स्वतंत्र डॉक्यूमेन्टरी का निर्माण शुरू हुआ और कुछ नए सत्यों से साक्षात्कार हुआ।

वीडियो तकनीक के आने से पहले फ़िल्म निर्माण का सारा काम सेल्लुलाइड पर होता था। सेल्लुलाइड यानि सिल्वर ब्रोमाइड की परत वाली प्लास्टिक की पट्टी को रौशनी से परिचित (एक्सपोज) करवाने पर छवि का अंकन निगेटिव फ़िल्म पर होता, फिर यह फ़िल्म लैब में धुलने (रासायनिक प्रक्रिया) के लिए जाती। यह एक समय लेने वाली और

तमाम झंझटों से गुजरने वाली प्रक्रिया थी। आज से पंद्रह साल पहले तक 11 मिनट की शूटिंग के लिए फ़िल्म रोल और धुलाई का खर्च ही 8 से 10 हजार रुपये था। अब इसमें किराया भाड़ा भी शामिल करें तो खर्चा और बढ़ जाएगा। गौरतलब है कि यह अनुमान 16 मिलीमीटर के फॉरमैट के लिए लगाया जा रहा है। सेलुलाइड के प्रचलित फॉरमैट 35 मिमी में यह खर्च दुगुने से थोड़ा ज्यादा पड़ेगा। फिर शूटिंग यूनिट में कैमरापर्सन, कम से कम दो सहायक और साउंड रिकार्डिस्ट की जरूरत पड़ती और सारे सामान के लिए एक मंज़ोली गाड़ी और ड्राइवर। इसके उलट वीडियो में आज की तारीख में 100 रुपये में आप 40 मिनट की रिकॉर्डिंग कर सकते हैं। दोनों माध्यमों में एक बड़ा फर्क यह भी था कि जहां सेलुलाइड में आप केवल एक बार छवियों को अंकित कर सकते वहीं वीडियो के मैग्नेटिक टेप में आप अंकित हुई छवि को कई बार मिटा कर नई छवि का अंकन कर सकते हैं। वीडियो की यूनिट केवल एक व्यक्ति भी संचालित कर सकता है। 1990 के दशक के मध्य तक न केवल वीडियो कैमरे सस्ते हुए बल्कि कंप्यूटर पर एडिटिंग करना भी आसान और सस्ता हो गया।

वृत्तचित्र सिनेमा के लिए ये तकनीकी बदलाव नए किस्म के जनतंत्रीकरण के रास्ते खोलते हैं। लेकिन इसी दौर में लोकप्रिय हिन्दी सिनेमा की दर्शक दीर्घा में भी एक बड़ा बदलाव आता है। मल्टीप्लेक्स सिनेमा संस्कृति के आने के साथ सिंगल स्क्रीन सिनेमा तेज़ी से हाशिए पर जाने लगते हैं और इसके साथ ही बदलने लगती है सिनेमा की दर्शक दीर्घा। यहाँ हम दो प्रतिनिधि वृत्तचित्रों के अध्ययन के माध्यम से लोकप्रिय सिनेमा के बदलते चरित्र और उससे मनोरंजन के सार्वजनिक संसार में पैदा हो रहे विभिन्न परिणामों को खाते में दर्ज करने का प्रयास करेंगे।

## वीडियोकारन का सेगई राज: लोकप्रिय सिनेमा का प्रतिनिधि दर्शक

निर्देशक जगन्नाथन कृष्णन मुम्बई की सिनेमा संस्कृति पर बनाई वृत्तचित्र फ़िल्म 'वीडियोकारन' (2011) के बारे में तहलका को दिए एक साक्षात्कार में कहते हैं कि उनकी फ़िल्म का बीज विचार सिनेमा के गरीब से छीने जाने की निरंतर जारी प्रक्रिया से उपजा था। लेकिन फिर फ़िल्म बनाते हुए उन्होंने देखा कि मल्टीप्लेक्स के मँहगे टिकटों की बात करने के बजाए ज़्यादा अच्छा होगा कि लोकप्रिय हिन्दी सिनेमा और उसके दर्शक के बीच रहे गहरे रिश्ते की बात की जाए। वे आगे कहते हैं, "पहले के सिंगल स्क्रीन सिनेमाघरों में विभिन्न किस्म के लोग साथ बैठकर फ़िल्म का आनंद उठाते थे। लेकिन यह अब खत्म हो रहा है। हाँ, हमारे शहरों में छुआछूत नहीं है क्योंकि लोकल ट्रेन में सबके शरीर एक-दूसरे से टकराते ही हैं। सिनेमा यही काम एक अन्य स्तर पर कर रहा था। सिनेमाहाल में, चाहे आप किसी भी वर्ग से ताल्लुक रखते हों, आप सभी एक समान भावनात्मक इलाके में ले आए जाते हैं। और सिनेमा आपके भीतर एक 'पैन-इंडियन' भाव पैदा कर देता है। लेकिन आज का सिनेमा ऐसा हो गया है जैसे किसी उत्पाद को खरीदा जा रहा हो। अगर आप किसी मॉल में जाते हैं तो आप अपनी भाषा तक का खयाल रखते हैं। आप मॉल में सिनेमा देखते हुए ताली-मार या सीटी-मार हरकतें नहीं कर सकते हैं। यहाँ परदे पर होनेवाली घटनाओं से कोई तात्कालिक जुड़ाव नहीं है।"<sup>4</sup>

कृष्णन की वृत्तचित्र फ़िल्म 'वीडियोकारन' सिनेमा की दर्शकदीर्घा में आ रहे इस परिवर्तन को अपने मुख्य किरदार, मुम्बई के चेंबूर इलाके में वीडियोग्राफी का धंधा करने वाले सेगई राज के ज़िन्दगी से जुड़े अनुभवों के माध्यम से जाँचती है। वृत्तचित्र फ़िल्म एक रेखाचित्र

खींचती है मुख्य किरदार सेगई राज का। सेगई राज ही कथा का 'वीडियोवाला' है। लेकिन यह फिल्म एक किरदार पर आधारित होने के बावजूद जीवनी फिल्म नहीं है। दरअसल सेगई राज की कहानी हमारे लोकप्रिय हिन्दुस्तानी सिनेमा, और उसके दर्शक को समझने के लिए एक 'माइक्रोकॉस्म' का काम करती है। एक ऐसा प्रिज़्म जिसके सहारे हमारे सतरंगी मुख्यधारा सिनेमा के सातों रंग अलग चमकते देखे जा सकते हैं। दूसर भी, चमकीले भी। साथ ही यह फिल्म उस आधारभूत परिवर्तन के ऊपर भी हाथ रखती है जिससे हिन्दी सिनेमा नब्बे के दशक और उसके बाद के समय में गुज़रा है। यह परिवर्तन हैं मुख्यधारा सिनेमा के मँहगे मल्टीप्लेक्स में कैद होने और उसके निम्न आमदनी वाले दर्शक से बिछोह के अनुभव। सिनेमा की कथा अपने आप में यहाँ एक उतार-चढ़ाव भरे सिनेमा की पटकथा में बदलती दिखाई देती है।

सेगई की कहानी अस्सी के दशक में हिन्दुस्तान के शहरों से लेकर धुर देहातों तक आई वीडियो क्रांति के बीच जन्म लेती है। ऐसा समाज जहाँ सिनेमा रोज़मर्रा की ज़िन्दगी का हिस्सा है। सेगई बड़ा होकर खुद अपना वीडियो पार्लर खोलता है। जनता की मर्जी की फिल्में चलाता है, उन्हें पब्लिक की डिमांड के अनुसार बदलता है और ज़रूरत पड़ने पर उन्हें मनमाफ़िक एडिट भी करता है। और फिर इसी दुनिया में उस वीडियो पार्लर को बुलडोज़र से टूटते भी देखता है। और वृत्तचित्र में यह सब कहानियाँ हम खुद सेगई के मुँह से ही सुन रहे हैं। सेगई बात करता जाता है और हम जानते हैं कि सेगई ने अपनी ज़िन्दगी के कुछ सबसे ज़रूरी पाठ उस सिनेमा से सीखे हैं जिसे उसका सभ्रांत और समझदार दर्शक 'नकली, अयथार्थवादी' कहकर खारिज कर सकता है। यह शहर के हाशिए पर आबाद एक ऐसी

दुनिया की कहानियाँ हैं जहाँ मौत और ज़िन्दगी के बीच फ़ासला बहुत थोड़ा है।

जय अर्जुन सिंह फ़िल्म में दिखाई देती मुम्बई की सड़कों और समूचे परिदृश्य पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि “हालांकि जो सड़क जगन्नाथन कृष्णन की फ़िल्म ‘वीडियोकारन’ में दिखाई दे रही है, वह आधुनिक महानगर की सड़क है, इसका सबसे प्रतिनिधि चित्र एक चलते ऑटोरिक्शा से भागती दिखाई देती झोपड़पट्टी है जबकि ऑटोरिक्शा के भीतर किसी पुराने गीत की धुन बज रही है। ऐसे गीत जो अस्सी के दशक में एक पैसे में दर्जन मिला करते थे। लगता है कि यह ऑटोरिक्शा नहीं, टाइम मशीन है। यह फ़िल्म एक ऐसी सिनेमाई दुनिया के बारे में है जिसके बारे में शहरी मल्टिप्लेक्स में सिनेमा देखने जानेवाली जनता बहुत कम जानती है। यह उन विभिन्न तरीकों के बारे में है जिनके ज़रिये वंचित समुदाय की जनता लोकप्रिय सिनेमा देखती रही है और उससे अपना रिश्ता कायम करती रही है। और इस बारे में भी कि कैसे उनके व्यक्तित्व और जीवन उनके सिनेमाई अनुभवों से संचालित होते रहे हैं।”<sup>5</sup>

### **सिनेमा का गणतंत्र और उससे बहिष्कृत होता नागरिक**

अमिताव कुमार लिखते हैं कि वे एक ऐसे गणतंत्र के नागरिक हैं जिसे बॉलिवुड सिनेमा ने रचा है। उनके भाव और उन्हें अभिव्यक्त करने का तरीका कहीं गहरे उन फ़िल्मों से प्रभावित है जिन्हें उन्होंने परदे पर देखा है। अपने मैलोट्रामा, अपने गीतों और अपने जाने-पहचाने तरीकों के माध्यम से मुख्यधारा हिन्दी सिनेमा उन्हें वो बनाता है जो वे आज हैं।<sup>6</sup> एक बड़े स्तर पर यह हमारे समाज की वृहत सच्चाई भी हो सकती है, खासकर शहरी



कामकाजी जनता की जिसके साथ लोकप्रिय हिन्दी सिनेमा ने एक खास रिश्ता कायम किया और नब्बे के दशक तक वो रिश्ता बाकायदे जारी भी रहा। ऐतिहासिक रूप से हमारा सिनेमा उसे देखने वाले एक बड़े वर्ग के लिए सिर्फ सिनेमा भर नहीं। यह उनकी ज़िन्दगी की मुख्य संरचना है, बहुत बार जिसके आगे असलियत धुंधली पड़ जाती है। वृत्तचित्र 'वीडियोकारन' का मुख्य किरदार सेगई राज इसी दुनिया का प्रतिनिधि चरित्र है। बातूनी, आत्मविश्वास से भरा और खुशमिजाज़। अद्भुत तर्क शृंखला से बनते उसके जवाब लोकप्रिय सिनेमा की नई व्याख्याएं हमारे सामने खोलते हैं। फिल्म के एक शुरुआती प्रसंग में अमिताभ और रजनीकांत के दो प्रशंसकों के आपसी तर्क-वितर्क हमें हिन्दी सिनेमा और तमिल सिनेमा में पाए जाने वाले नायकत्व के उन भेदों से परिचित कराते हैं जिसे साबित करने के लिए कई मोटे अकादमिक अध्ययन नाकाफ़ी साबित हों। यहाँ हाशिए की यह ज़िन्दगियाँ रेल की पटरियों के सहारे चल रही हैं, मौत के एकदम करीब। और इन हाशिए की ज़िन्दगियों में सिनेमा 'लार्जर-दैन-लाइफ़' इमेज को घोलता है जिसे शहरी सभ्रांत खारिज करता है।

सेगई केवल दसवीं तक पढ़ा है, उसके दोस्तों में सबसे ज़्यादा, लेकिन वो आपको बता सकता है कि किसी नई रजनीकांत फिल्म के सिनेमाहाल में लगने पर पहले दिन के पहले, दूसरे, तीसरे शो की अलग-अलग ब्लैक टिकट रेट क्या होगी। या फिर यह कि थाईलैंड का कौनसा हीरो चेंबूर के इलाके में 'छोटा ब्रूस ली' के नाम से जाना जाता है। या फिर यह कि तमिल सिनेमा में हीरो जब भी नाचता है तो उसके पीछे हमेशा पचास-साठ आदमियों की फ़ौज क्यों होती है। और यह भी कि पुलिस जब रिमान्ड पर लेकर 'थर्ड डिग्री' का इस्तेमाल

करे तो उससे बचने के लिए कौनसा तरीका सबसे कारगर है। अपनी ही तर्क प्रणाली पर आधारित उसके सारे जवाब तार्किक हैं और सबसे मज़ेदार बात यह है कि यह सारे जवाब उसने सिनेमा देखकर कमाए हैं। क्या यह सच्चाई नहीं कि हमारे लिए सिनेमा सिर्फ मनोरंजन का माध्यम हो सकता है लेकिन जिस समाज ने अपने जीने के तरीके इसी सिनेमा से कमाए हों, उसके लिए यह सिनेमा कहीं ज़्यादा बड़ी चीज़ है। और ऐसा इसलिए क्योंकि समाज के इस बहुमत को वैधानिक तरीकों से ज़िन्दगी जीने का हक कभी दिया ही नहीं गया। पानी, बिजली, घर, नौकरी, शहरी संरचना में शहर के इस तथाकथित अवैध हिस्से को सभी सुविधाओं से महरूम रखा गया। और जो और जितना कभी उनके हाथ आया भी, उसे संस्थागत तरीके से छीना जाता गया। एक लम्बे समय तक सिनेमा ही शहर में वो समांतर संरचना गढ़ रहा था जहाँ गरीब भी बराबरी पर खड़ा होकर अपना हिस्सा माँग सकता था और पा सकता था।

लेकिन 'वीडियोकारन' का वर्तमान वह समय है जब बड़े ही संस्थागत तरीके से शहरी समाज के इस निम्नवर्गीय बहुमत से उसका मनोरंजन भी छीना जा रहा है। यह वीडियोक्रांति अब पुराने ज़माने की बात है। सेगई का वीडियो पार्लर भी बड़े ही संस्थागत तरीके से बुलडोज़र के नीचे कुचला गया और अब सेगई अपना फ़ोटो स्टूडियो चलाता है। सेगई फ़िल्म में वो स्थान दिखाता है जहाँ कभी उसका वीडियो पार्लर हुआ करता था। वो अब भी याद करता है उन दिनों को जब वीडियो पार्लर था, दोस्तों का साथ था, और रजनीकांत की फ़िल्मों थीं।

पत्रकार और लोकप्रिय सांस्कृतिक रूपों के अध्येता रवीश कुमार दिल्ली और सिनेमा पर एक परिचर्चा के दौरान बताते हैं कि किस तरह नए दौर में हिन्दी के लोकप्रिय सिनेमा ने अपने दर्शक को भी खांचों में बाँटकर देखना शुरू कर दिया है। वे अपने टेलीविज़न कार्यक्रम 'रवीश की रिपोर्ट' की एक कड़ी का हवाला देते हुए इस दौरान के अनुभव कुछ इन शब्दों में साझा करते हैं, "महमूद के साथ ही मैं बना रहा था कभी 'मनोरंजन का संसार'। जिसमें था कि दिल्ली के लोग एंटरटेमेंट कैसे करते हैं। संगम विहार, वो साकेत के आगे जो सिनेमा हॉल है। तो संगम विहार, मदनगीर सब जगहों में मिलाकर करीब दस लाख लोग रहते होंगे। एक भी सिनेमा हॉल नहीं है वहाँ मिलाकर। और बवाना में, अभी कॉमनवेल्थ के वजह से सारी दिल्ली से लोगों को उजाड़कर वहाँ भेजा गया है, वहाँ करीब दो-तीन लाख लोग तो रहते होंगे। वहाँ भी कोई सिनेमा हॉल नहीं है। वीडियो हॉल्स चल रहे हैं पांच-पांच रुपए में। जब मल्टीप्लेक्स आया तो उसने चुन लिया कि हम सिर्फ आपके लिए ही सिनेमा बनायेंगे। यह गरीबी-वरीबी को हटाओ।

यह लोग सेवेंटीज़ और एट्टीज़ की धर्मन्द्र की जो अजीब-अजीब फ़िल्में आती थीं उन्हें नाम बदल-बदलकर देख रहे हैं। सन्नी देओल की फ़िल्में देख रहे हैं। और उसका रेट तय है। पांच रुपए में चार फ़िल्में। उनके पास संडे को सेलेब्रेट करने का या खर्च करने का कोई तरीका नहीं होता। इसलिए सेटरडे और संडे को काफ़ी भीड़ होती है जिसमें वो लोग पांच रुपए में सुबह दस बजे भीतर जाते हैं और शाम के पांच बजे तक फ़िल्में देखते रहते हैं। जैसे भोजपुरी का एक शब्द है, 'भकुआ' के सिनेमा देखना। जैसे कोई सिनेमा का भूखा फ़िल्म देख रहा हो। ऐसे दर्शक को तो सिनेमा ने खुद ही छोड़ दिया है। मल्टीप्लेक्स में वो जाएगा ही नहीं।

संगम विहार और मदनगीर में ऐसे बहुत सारे लोग मिले जिन्होंने बताया कि कब गोलछा में उन्होंने आखिरी फ़िल्म देखी थी और अस्सी-नब्बे के दशक के बाद से उन्होंने फ़िल्मों नहीं देखी हैं। क्योंकि डेढ़ सौ रुपए उनके बस के बाहर की चीज़ है।<sup>7</sup>

इसके समांतर इसी शहर में एक और सिनेमाई दुनिया रची जा रही है। लोकप्रिय सिनेमा अपने कैसे नए ठिकाने गढ़ रहा है यह आप देश की सबसे बड़ी मल्टीप्लेक्स कंपनी पीवीआर द्वारा दक्षिण दिल्ली में शुरू किए गए नए आलीशान सिनेमाघर 'डाइरेक्टर्स कट' के अनुभव को जानकर समझ सकते हैं। चार स्क्रीन वाले इस अत्याधुनिक सिनेमाहाल के एक शो के टिकट की कीमत सामान्य दिनों में 850 और सप्ताहांत में 1050 रुपए है। इसके अलावा यहाँ एक व्यक्ति के लिए सामान्य खाद्य पदार्थ की कीमत तक़रीबन 1000 रुपए आ सकती है। यहाँ 'फुल-रिक्लाइनर' कुर्सियों पर बैठकर आप अपने हाथ में उपलब्ध रिमोट द्वारा वेटर को बुला सकते हैं और फ़िल्म के बीच में अपनी पसन्द की जो वस्तु चाहे, खाने के लिए मंगा सकते हैं। हाँ, इस खाने-पीने के बीच परदे पर चलते सिनेमा का क्या होगा, यह किसी को नहीं मालूम। सिनेमाघर के मालिक अजय बिजली विश्वास दिलाते हैं कि उनके वेटर पूर्णतः सिखाए हुए हैं और वे अपना काम बिना किसी व्यवधान उत्पन्न किये करते रहेंगे। इसमें अपनी टिप्पणी जोड़ते हुए समीक्षक पत्रकार ठीक ही लिखती हैं कि यह जन्मदिन मनाने या पहली रोमांटिक मुलाकात के लिए तो ठीक है, लेकिन अपनी पसन्दीदा फ़िल्म देखने के लिए इस आलीशान सिनेमाघर का चुनाव घातक सिद्ध हो सकता है।<sup>8</sup> स्पष्ट है कि विशालकाय मॉल्स में बसे इन आलीशान सिनेमाघरों में सिनेमा भी किसी अन्य उत्पाद में बदल गया है, और उसकी जगह किसी ब्रांडेड कपड़े, जूते या मंहगी किस्म

की शराब जैसी होकर रह गई है। और इसके पीछे सिनेमा ने अपने उस दर्शक को खो दिया है, जिससे उसका भावनात्मक जुड़ाव सिनेमा की कपोल कथाओं से कहीं गहरा था।

हिन्दुस्तान के शहर, गाँव, देहातों में फैला एक बड़ा वर्ग है जो अब मुख्यधारा के हिन्दी सिनेमा से पूरी तरह कट चुका है। भले ही वो अब भोजपुरी सिनेमा देख रहा है, लोकल लेवल पर बनाए गए म्यूज़िक वीडियो देख रहा है, टी वी देख रहा है, 'मालेगाँव के शोले' और 'मालेगाँव की शान' देख रहा है, लेकिन नया बनता हिन्दी सिनेमा नहीं देख रहा है। इसे बेहतर तरीके से स्पष्ट करते हुए पत्रकार रवीश कुमार अपनी एक पोस्ट में लिखते हैं, "आज हिंदी सिनेमा मनोरंजन का एकमात्र सिनेमा नहीं है। इसे समझने के लिए हमें हिंदी सिनेमा के पैन इंडियन होने के सवाल से भी दो चार होना चाहिए। क्या हिंदी सिनेमा कम से कम उत्तर भारत में पैन इंडियन सिनेमा है? वो अपना बाजार ग्लोबल मार्केट में ढूँढ रहा है या हिंदी प्रदेशों के कस्बे के भीतर। जब से हिंदी सिनेमा ने मल्टीप्लेक्स की गली पकड़ी, उस दौरान एक बदलाव आ रहा था। नकली सीडी का। लोगों तक सिनेमा इस मार्केट के जरिये पहुंचा। हुआ ये कि वो जो तबका, जो बड़े पर्दे पर सिनेमा झूम के देखता था, वो उस सिनेमा को अपनी झुग्गी में देखने लगा। छोटे पर्दे की आदत लगी, तो एक बाजार अपने आप बन गया, जो हिंदी सिनेमा के बाहर का था। मेरठ में अलग से बालीवुड बन गया। गांव-गांव में भोजपुरी के अपने अलबम बनने लगे। सिनेमा से लेकर फूहड़ गानों तक। इनके सिनेमा को आप अश्लील और फूहड़ कह सकते हैं – बस जरा ध्यान रखना होगा कि मुन्नी बदनाम हो गयी और लौंडा बदनाम हो गया में क्या फर्क है।"<sup>9</sup>

## पैरोडी या सिनेमा का जनतंत्रीकरण: मालेगाँव का स्थानीय सिनेमा

यहीं जन्म लेता है मालेगाँव का फिल्मोद्योग, जिसके बीज शायद समाज के एक हिस्से से बड़े ही संस्थागत तरीके से उसका मनोरंजन छीने जाने से जुड़े हैं। मालेगाँव के शेख नासेर भी सेगई की तरह एक वीडियो पार्लर चलाने वाले और सिनेमा के शैदायी इंसान थे। कुछ कुछ सेगई की कथा की तरह ही उनका वीडियो पार्लर भी नब्बे के दशक में सिनेमा के छोटे शहरों की ओर से मुँह फेरे जाने की भेंट चढ़ गया। लेकिन 'वीडियोकारन' अगर लोकप्रिय सिनेमा के बहुमत जनता से छीने जाने की कथा है, तो मालेगाँव की स्थानीय फिल्म इंडस्ट्री उसके विकल्प की कथा है। और यह कथा फैज़ा एहमद खान के वृत्तचित्र 'सुपरमैन ऑफ़ मालेगाँव' (2008) में अपने तमाम अन्तरविरोधों के साथ उभरकर सामने आई है। लेकिन उस कथा तक पहुँचने से पहले ज़रा मालेगाँव तक सिनेमा के पहुँचने की पृष्ठभूमि पर भी एक नज़र डालें। मुम्बई के कपड़ा उद्योग के ध्वस्त होने और लालबाग़-परेल की मिलों के बन्द होने के विभिन्न कारणों पर बात करते हुए इतिहासकार ज्ञान प्रकाश उनको असंगठित पावरलूम उद्योग से मिल रही चुनौती की बात करते हैं। दरअसल अस्सी के दशक में मुम्बई के आर्थिक परिदृश्य में होने इन परिवर्तनों का गहरा सामाजिक आयाम भी था। यह बात सही है कि मुम्बई की मिलों की तालाबन्दी में 1982 की सम्पूर्ण हड़ताल और उससे उपजी परिस्थितियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, लेकिन जैसा प्रकाश बताते हैं कि इस तालाबन्दी की कुछ दीर्घकालीन वजहें भी रही हैं। प्रकाश उस असंगठित कामगार की बात करते हैं जो महाराष्ट्र के अन्य पिछड़े इलाकों में मौजूद था और जिसने मुम्बई की यूनियन आधारित मज़दूरों के श्रम से चलनेवाली मिलों के मुकाबले कपड़ा उद्योग को सस्ता श्रम उपलब्ध करवाया।

लेकिन इस परिवर्तन का एक सिरा हमारे लोकप्रिय सिनेमा के इतिहास से भी आ जुड़ता है। अस्सी के दशक के खत्म होते न होते हमारे सिनेमा का वर्गीय चरित्र तेज़ी से बदलता है और इसके तार एक ओर जहाँ हिन्दुस्तान के आर्थिक ढाँचे में आये आमूलचूल परिवर्तन से जुड़ते हैं वहीं दूसरी ओर मुम्बई के सिनेमा के बदलते वर्गीय चरित्र से भी आ जुड़ते हैं। मुम्बई की मिलों पर आधारित आर्थिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने के साथ ही हिन्दी सिनेमा अपना दर्शक खोता है, या कहें खुद ही उसे छोड़ आगे बढ़ जाता है। उदारीकरण और बाज़ार के दरवाज़े खुलने के बाद बदलते माहौल में अपना नया दर्शक तलाश करता हुआ लोकप्रिय हिन्दी सिनेमा विदेशों और बड़े शहरों में रहनेवाले सभ्रांत की ओर का रुख करता है, और अपने उस निम्नवर्गीय दर्शक को पूरी तरह भूल जाता है जिसे कभी उसने गर्व से अपना प्रथम दर्शक माना था। और इसी माहौल में जन्म लेती है मालेगाँव की समांतर फ़िल्म इंडस्ट्री, जिसका कच्चा-चिट्ठा वृत्तचित्र फ़िल्म 'सुपरमैन ऑफ़ मालेगाँव' बखूबी बयाँ करती है।

फ़िल्म की शुरुआत दो ध्वनियों से होती है। पावरलूम (हथकरघा) के चलने की आवाज़ तथा पहले जुम्मे के दिन 'फ़स्ट डे, फ़स्ट शो' देखने सिनेमाहाल के बाहर छलॉगे मारती पब्लिक का शोर। कुछ इस तरह कि दोनों ध्वनियाँ साज़ेदार सी लगने लगती हैं। पावरलूम की अंधेरी कोठरीनुमा फैक्ट्रियों में यहाँ के नौजवान अपनी रोज़ी-रोटी कमाते हैं, और सिनेमाहाल के अंधेरे में वे अपने उजले सपनों को जीते हैं। बुनकरों के इस शहर के पावरलूम उद्योग और सिनेमा ये दो सिरे हैं, और अगर हम इनमें से एक भी सिरा पकड़कर दूसरा हाथ से जाने देंगे

तो 'सुपरमैन ऑफ़ मालेगांव' का असल अर्थ हमारे हाथ से निकल जायेगा। फैज़ा अहमद खान द्वारा मालेगांव के स्थानीय फ़िल्म उद्योग पर बनाये इस सत्तर मिनट के वृत्तचित्र का पूरा अर्थ समझने के लिए इसे इसी शहर के उजड़ते (या उजाड़े जाते) पावरलूम उद्योग के साथ रखकर पढ़ा जाना ज़रूरी है। आज यह पावरलूम उद्योग संकट में है, वही पावरलूम उद्योग जिसने कभी मुम्बई के सदी भर पुराने कपड़ा मिल उद्योग पर हमेशा के लिए ताला लगवा दिया था।

नासेर शेख, जिनकी कथा इस वृत्तचित्र फ़िल्म के केन्द्र में है, मालेगाँव के स्थानीय सिनेमा उद्योग के दादासाहेब फाल्के माने जाते हैं, शहर की इन दो विशेषताओं को आपस में जोड़ देते हैं। साल 2000 में अपनी पहली 'स्थानीय फ़िल्म' बनाने के लिए वे अपने भाई से 50,000 रुपए उधार लेते हैं और शहर के अन्य सिनेमा शौकीनों को जोड़कर अपनी पहली फ़िल्म बनाते हैं। अमिताभ, संजीव कुमार और धर्मेन्द्र के जैसे दिखने वाले शहर के अदाकारों को हैण्डिकैम पर फ़िल्माकर तैयार होती है 'मालेगाँव के शोले'। फ़िल्म अपनी लागत से दुगुना पैसा कमाती है और इस तरह शुरु होता है मालेगाँव की स्थानीय जनता द्वारा तैयार और लोकप्रिय सिनेमा का विद्रूप रचती इन मज़ाकिया फ़िल्मों का सफ़र। जहाँ नासेर इसके बाद 'मालेगाँव की शान' बनाते हैं, वहीं दूसरे भी लगान, डॉन, करण-अर्जुन, रंगीला, मुग़ल-ए-आज़म जैसी फ़िल्मों के मज़ाकिया विद्रूप रचते हैं।

लेकिन नई सदी में फिर संस्थागत निषेध ज़ोर मारता है। शहर के बहुत सारे वीडियो पार्लर को सरकारी डण्डे द्वारा बन्द करवा दिया जाता है, क्योंकि उनके पास ज़रूरत के अनुसार



लाइसेंस नहीं हैं। लोकप्रिय सिनेमा की नकल पर बननेवाली और मालेगाँव में बहुत लोकप्रिय रही यह मज़ाकिया फ़िल्में भी इस दौरान धुंधलके में जाने लगती हैं। शहर का नाम अपने सिनेमा के लिए नहीं, बल्कि बम विस्फोटों के लिए और साम्प्रदायिक तनाव के लिए समाचारों में आने लगता है। और इस विद्रूप सिनेमा के जनक नासेर भी अपने सिनेमा पार्लर को रेडीमेड कपड़े की दुकान में बदल कपड़े बेचने का धंधा करने लगते हैं। लेकिन उनके सपने मरते नहीं, वे फिर एक बार बहाव के उलट तैरने का प्रण करते हैं और अपनी अब तक की सबसे महत्वाकांक्षी फ़िल्म 'मालेगाँव का सुपरमैन' बनाने का निश्चय करते हैं।<sup>10</sup>

फैज़ा के वृत्तचित्र फ़िल्म की शुरुआत में ही जब नासेर कहते हैं कि उन्होंने 'बॉलीवुड' से तो लड़ाई लड़कर जीत ली, अब सीधा 'हॉलीवुड' से टक्कर का इरादा है, तो जहाँ इस बात की सरलता हमें हँसाती है वहीं इसके भीतर छुपा अदम्य साहस हमें उनके पीछे, उनके इरादों के पीछे ले जाकर खड़ा कर देता है। नाटक की भाषा में कहें तो हमारा साधारणीकरण हो जाता है और हम हमारे नायक के साथ ही रोते-हँसते हैं और पूरी तरह उनके साथ हो लेते हैं। जहाँ उनका कैमरा खराब होता है तो साथ ही हमारा दिल भी बैठ जाता है और जब वे पहली बार परदे पर सफल क्रोमा बनाते हैं तो हम बच्चों की तरह खिलखिलाते हैं। हम उनकी सफलताओं पर उनके साथ उछलते हैं और उदासी में उनके साथ ही उदास हो जाते हैं।

लेकिन इस अकल्पनीय कल्पनाशीलता और सफलता की कहानी के पीछे एक और बड़ी कहानी भी है जिससे जोड़कर देखने पर ही 'सुपरमैन ऑफ़ मालेगाँव' हमारे समय की बड़ी फ़िल्म बनती है। मालेगाँव महाराष्ट्र के उसी विदर्भ इलाके का एक शहर है जिसका

आजकल हमारी राष्ट्रीय खबरों में आगमन केवल अकाल और किसानों की आत्महत्याओं संदर्भ में ही होता है। दो सूबों में बँटा शहर जिसके बीच बहती एक नाला हो चुकी नदी शहर को दो भिन्न हिस्सों में बाँटती है। दो हिस्से आबादियों के, धर्म के, सुविधाओं के। यह कथा हमें उस नदी के पार बसी राष्ट्रीय खबरों से बाहर हो चुकी दुनिया में ले जाती है। मज़दूर बुनकरों की वो दुनिया जिसका स्थापत्य तेज़ी से बिखर रहा है। बिजली से चलने वाले पावरलूम उद्योग पर टिकी इस शहर की महीन आर्थिक संचरना उदारीकरण के बाद के हिन्दुस्तान में तेज़ी से बिखर रही है। और जिस मज़दूर से हम उसकी रोज़ी-रोटी छीन रहे हैं, उसे अपनी बसर का कोई विकल्प भी मयस्सर नहीं है। फ़िल्म के मध्य एक ऐसी ही स्याह रात में फ़िल्म का एक किरदार यह कविता सुनाता है,

“ऐ रात के सहारा\* में भटकते हुए चाँद  
जा कहीं और चला जा कि ये बस्ती तेरे काबिल ही नहीं  
ये वो बस्ती है जहाँ रात के सन्नाटे में  
इज़ज़त-ओ-नफ़स\* को नीलाम किया जाता है  
इस जगह बिकते हैं इंसान भी सिक्कों के एवज़  
इस जगह प्यार को बदनाम किया जाता है  
इस जगह जुल्म और हलाकत\* के सिवा कुछ भी नहीं  
इस जगह कर्ब\* और अज़ीयत\* के सिवा कुछ भी नहीं  
इस जगह मुफ़लिस-ओ-नादार\* बिलखते बच्चे  
जिनके कानों में लड़कपन से जवाँ होने तक

कारखानों में लगी भारी मशीनों की सदा\*  
गूँजती रहती है ममता भरी लोरी की तरह  
चाँद, ऐ रात के सहारा में भटकते हुए चाँद  
जा, कहीं और चला जा तू मेरी बस्ती से।”

\*सहारा = रेगिस्तान, इज़्ज़त-ओ-नफ़स = स्वाभिमान, हलाकत = विनाश, कर्ब = पीड़ा,  
अज़ीयत = कष्ट, मुफ़लिस-ओ-नागार = गरीब कंगाल, सदा = गूँज

इस कविता में वो दर्द साफ़ पढ़ा जा सकता है जो व्यवस्थागत तरीके द्वारा नष्ट किए जा रहे समाज के एक हिस्से का दर्द है। पावरलूम का कारीगर बताता है कि मालेगांव की पहचान जैसे उसके पावरलूम की वजह से है, वैसे ही इस वजह से भी है कि यहाँ के लोग सिनेमा बहुत देखते हैं। जुम्मे के रोज़, जो नई फ़िल्म की रिलीज़ का दिन होता है, पावरलूम बन्द रहते हैं और बारह घंटे बिना रुके मशीन पर मशीन की तरह काम करने वाले मज़दूर सिनेमाघरों को पाट देते हैं। उसका कहना है कि सिनेमा के परदे पर जो सपना है वो सपना मज़दूर का अपना सपना बन जाता है और मज़दूर को उसकी निरंतर असह्य होती जा रही ज़िन्दगी को खुश होकर जीने का विश्वास देता है। लेकिन फिर किन्हीं बड़े शहरों में बन रहे मॉल को चौबीसों घंटे जगमग रखने के लिए इन पावरलूम की बिजली सप्लाई की धारा मोड़ दी जाती है और मालेगांव के दिन सुनसान और रातें वीरान होने लगती हैं। आठ से दस घंटे की बिजली कटौतियों के बीच उसकी आमदनी हफ्ते के हजार रुपये से घटकर चार-पांच सौ रुपये पर आ गयी है ऐसा बताया जाता है। इन्हीं पावरलूम मज़दूरों में से एक है हमारा

'सुपरमैन' शफीक शेख, जिसको उसके अब्बा ने बहुत पहले बताया था कि और चाहे जो करना लेकिन ज़िन्दगी में लूम मत चलाना। शफीक बताता है कि क्यों मजबूरी के चलते वो लूम चलाता है और फिर ये भी कि कैसे ज़िन्दगी जीने का ये ज़रिया भी उनसे छीना जा रहा है।

और फिर एक दिन यही टीबी का मरीज़ कारखाने का मज़दूर लड़का नीली पोशाक पहनकर हवा में उड़ने लगता है। नासेर और उनके दोस्त जो सिनेमा को अपने मुश्किल वर्तमान से परे एक तसव्वुर की तरह देखते थे, अपने इस मुश्किल वर्तमान की डोर भी हाथ से छूटते देखते हैं। अन्य तलाशा हुआ हर विकल्प चुक जाने पर वे अकल्पनीय की कल्पना करते हैं। वे परदे पर चलती इस तसव्वुर की दुनिया की ओर एक सीढ़ी लगाते हैं और उसके भीतर प्रवेश कर जाते हैं। हाँ, यह कथा बहुत खूबसूरत दिखाई देती है, लेकिन याद रखना चाहिए कि निरंतर गैरबराबर होते जा रहे हमारे समाज में इस अकल्पनीय कथा का मौजूद होना केवल नासेर, फारुख और शफीक जैसे मालेगाँव के निवासियों के इरादों की वजह से संभव हुआ है। नायक शेख नासेर की कहानी की सकारात्मकता ज़रूर से आफ़ताब बनने की तमाम सिनेमाई कहानियों को मात करती है। मालेगाँव का एक गरीब, हिम्मती लड़का जो परदे पर चलते सिनेमा के जादू से अभिभूत है, अचानक खड़ा होता है और कहता है कि सिनेमा के इस चहुँओर फैले जादू में मेरा भी हिस्सा है। लेकिन वो अन्य प्रचलित सिनेमाई कहानियों की तरह इस हिस्से को पाने की चाह में पंजाब मेल जैसी कोई रेलगाड़ी पकड़कर मुम्बई नहीं जाता। वो अपने ही घर-चौबारे-मौहल्ले में एक अदद कैमरा और कुछ सिरफ़िरे दोस्तों को लेकर उठ खड़ा होता है और हिन्दुस्तान भर में फैली सिनेमा की इस जादुई दुनिया से कहकर

अपना हिस्सा माँग लेता है।

यहाँ लोकप्रिय हिन्दी सिनेमा की सीमित होती दुनिया भी है, जिसे वह 'दबंग' मार्का सिनेमा के द्वारा अब वापस हासिल करना चाहता है, तो एक वृहत स्तर पर होता सिनेमा माध्यम का जनतंत्रीकरण भी है। जैसा रवीश कुमार लोकप्रिय सिनेमा के इस नए वैक्लपिक संसार का विस्तार से ब्यौरा देते हुए लिखते हैं, "ऐसा नहीं है कि पहले पंजाबी गाने या फ़िल्में नहीं बनती थीं। बनती थीं। लेकिन वो मुख्यधारा के बराबर की नहीं थीं। अब आप कह सकते हैं कि इसे सिनेमा मानें या न मानें। मत मानिए। आपकी मर्जी। आप क्या मानते हैं, उससे फर्क नहीं पड़ता। स्थानीय स्तर पर प्लॉट रचे जा रहे हैं, उन्हें हैंडीकैम से फ़िल्माया जा रहा है। एडिटिंग मसला नहीं रहा। सिनेमा के ग्रामर पर आम लोगों का हैमर चल रहा है। सबके हाथ में कैमरा है। अब केवल गुलज़ार लोकप्रिय नहीं रहे हैं। राजीव अलबेला भी स्टार है। भरत शर्मा व्यास को भी लोग जानते हैं। यही वजह है कि सीरियलों के बैकड्राप बदल रहे हैं। लापतागंज और इलाहाबाद फिर से आ रहा है। सिनेमा और सीरियल दोनों को अपनी पुरानी ज़मीन तलाशनी होगी। फ़िल्में हिट और फ्लॉप के पैमाने से चलती हैं। अ-मुंबइया फ़िल्मों के बाहर की फ़िल्मों ने भी सीडी में ढल कर पैसा कमा कर दिखाया है। मराठी, पंजाबी, भोजपुरी ये सब हिंदी सिनेमा के बाजार से अपना हिस्सा ले रही हैं। अब सवाल फिर से सामने है कि क्या ये विकल्प हैं। विकल्प का मतलब केवल नयी कहानी नहीं होता। नया बाजार भी होता है। नया दर्शक वर्ग भी होता है। कई भाषा बोलियों के सिनेमा का बाजार अब हिंदी सिनेमा के बाजार के समानांतर है। देश में करोड़ों लोग सिनेमा हाल नहीं जा रहे हैं। उनके लिए बड़े पर्दे के रोमांस की यादें धुंधली होती जा रही हैं। वो अब छोटे पर्दे पर बैटरी

चार्ज कर फ़िल्में देख रहे हैं। गाजियाबाद में मेरे घर के सामने एक बड़ा सा मॉल खुला है। उसके पीछे झुग्गियों में मज़दूर रहते हैं। एक दिन गोधूली बेला में पहुंचा, तो देखा कि दरी बिछा कर आठ-दस बच्चे और इतनी ही संख्या में मर्द बाहर बैठे हैं। अंदर औरतें बैठी हैं। छोटे टीवी पर डीवीडी प्लेयर रखा हुआ है। कोई भोजपुरी फ़िल्म शुरू होने वाली थी। माहौल ठीक वैसा जैसा सिनेमा का होता है। बस हिंदी सिनेमा नहीं था।”<sup>12</sup>

वृत्तचित्र फ़िल्मकारों के सामने जहाँ आज सिनेमा बनाने की चुनौती तकनीकी बदलावों के चलते कुछ सरल हुई है, वहीं सिनेमा दिखाने की चुनौती आज भी बनी हुई है। और ऐसे में नई सदी में उनके प्रयासों में सिनेमा प्रदर्शन से जुड़ी विभिन्न कोशिशें और उपक्रम प्रमुख हिस्सा बनते हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण है 2004 में मुम्बई में ‘विकल्प’ फ़िल्म समारोह का आयोजन, जो सेंसरशिप के खिलाफ स्वतंत्र वृत्तचित्र फ़िल्मकारों का एक सामुहिक प्रतिरोध बनकर उभरता है। जब 2004 में मुम्बई अन्तरराष्ट्रीय फ़िल्म महोत्सव के दौरान सरकार की आलोचना करनेवाली कुछ वृत्तचित्र फ़िल्मों को रोकने के उद्देश्य से सरकार द्वारा सभी फ़िल्मों पर सेंसर प्रमाणपत्र की अनिवार्यता का नियम लगाया जाता है, तो बहुत सारे फ़िल्मकार इसका प्रतिरोध करते हैं। इसके बाद जब चयन में साम्प्रदायिकता, जाति और लिंग के सवालों पर बनी फ़िल्मों और पर्यावरण की तबाही जैसे विषयों को उठाती बहुत सारी महत्वपूर्ण फ़िल्मों को समारोह से बाहर कर दिया जाता है, तो फ़िल्मकार संगठित होकर अधिकृत समारोह का बहिष्कार करते हैं और मुख्य समारोह के समांतर, समारोह स्थल के ठीक सामने ‘विकल्प’ फ़िल्म समारोह का आयोजन करते हैं। लगातार 6 दिन चला यह फ़िल्म समारोह स्वतंत्र वृत्तचित्र सिनेमा की राह में एक नया अध्याय जोड़ता है।

‘विकल्प’ फ़िल्म समारोह के बाद फ़िल्मकारों का यह स्वतंत्र प्रयास विभिन्न शहरों में फैला नियमित फ़िल्म प्रदर्शन तथा उस पर परिचर्चा का एक महत्वपूर्ण स्थान बन जाता है। मुम्बई में पृथ्वी हाउस जुहू में इसकी नियमित स्क्रीनिंग होती है और वृत्तचित्र फ़िल्मकार आनंद पटवर्धन इसके क्यूरेटर हैं। वे बताते हैं, “अच्छे से अच्छे वृत्तचित्र को भी हिन्दुस्तान में हाथोंहाथ लेनेवाले बहुत नहीं हैं, और आमतौर पर वृत्तचित्रों को सिनेमाघर में प्रदर्शन का मौका नहीं मिलता। इसलिए हम ‘विकल्प’ में वृत्तचित्रों के प्रदर्शन पर विशेष ध्यान रखते हैं।”<sup>13</sup>

## संदर्भ सूची

1. इंडिया: ए डॉक्यूमेंट्री हिस्ट्री, देखें -  
<https://mubi.com/lists/india-a-documentary-history>
2. इंडिया: ए डॉक्यूमेंट्री हिस्ट्री, देखें -  
<https://mubi.com/lists/india-a-documentary-history>
3. रवि वासुदेवन, दि मैलोड्रेमेटिक पब्लिक : फिल्म फॉर्म ऑफ स्पेक्टेटरशिप इन इंडियन सिनेमा, परमानेंट ब्लैक, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ – 312
4. “Earlier, in single-screen theatres, different kinds of audiences used to sit together and enjoy a movie. That is now going away. We don’t have caste system in cities because of local trains — bodies are packed together. Cinema was doing that at a subliminal level. In a theatre, regardless of class, you are brought into a common emotional zone, and there is this pan-Indian feeling. (But) cinema is now like a brand-endorsing thing. If you go to a mall, you watch your language; you don’t do the taali-maar, seeti-bajao kind of thing. There is no immediacy of response to what is happening on screen.”
5. जय अर्जुन सिंह, सिनेमा एंड दि अन्डरडॉग, दि कारावान, दिसंबर, 2011

6. अमिताव कुमार, राइटिंग माई ओन सत्या, दि पॉपकॉर्न ऐस्सेइस्ट : व्हाट मूवीज़ डू टू राइटर्स, संपादक - जय अर्जुन सिंह, ट्रांक्युबार, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ - 80
7. रवीश कुमार, 'शहर और सिनेमा : वाया दिल्ली' में शामिल बातचीत से, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ - 235-6
8. अनिदिता घोष, मिंट लॉन्ज, सिनेमा एक्लिप्स, 7 अक्टूबर, 2011
9. जगन्नाथन कृष्णन, नोबॉडी डज़ दि तालीमार सीटी बजाओ काइंड ऑफ़ थिंग एनीमोर, तहलका, 10 दिसंबर, 2011
10. रवीश कुमार, देखते जाइये : बदलेगा बाज़ार, बदलेगा सिनेमा, देखें <http://mohallalive.com/2010/09/18/ravish-kumar-on-ulternative-cinema/>
11. नम्रता जोशी, साइरन्स ऑफ़ मालेगाँव, आउटलुक, 11 मई, 2009
12. आनंद पटवर्धन, मिफ 2004 एंड इट्स विकल्प, 11 फरवरी, 2004, देखें -  
<http://www.patwardhan.com/writings/Miff2004%20and%20its%20Vikalp.htm>
13. दिप्ति झंगियानी, सिनेमास् सबाल्टर्न वॉइस, डीएनए मुम्बई, 25 अक्टूबर, 2013